International Journal of Advanced Research and Multidisciplinary Trends (IJARMT)
An International Open Access, Peer-Reviewed Refereed Journal
Impact Factor: 6.4 Website: https://ijarmt.com ISSN No.: 3048-9458

गणराज्य और राजतंत्रः महाजनपदकालीन राजनीतिक व्यवस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन

कुमारी नेहा चौहान
शोधार्थी, इतिहास विभाग, कलिंगा विश्वविद्यालय, नया रायपुर, छत्तीसगढ़, भारत

सारांश
प्राचीन भारतीय इतिहास में ईसा–पूर्व छठी शताब्दी का काल राजनीतिक संरचनाओं की विविधता के कारण विशेष महत्त्व रखता है। इस समय उत्तर भारत में एक ओर मगध, कोशल, वत्स और अवन्ति जैसे राजतंत्रीय महाजनपद विकसित हो रहे थे, तो दूसरी ओर वज्जि, मल्ल, शाक्य, कोलिय तथा कुछ अन्य गण–संघ ऐसी व्यवस्थाओं का प्रतिनिधित्व करते थे जिनमें सत्ता किसी एक वंशानुगत सम्राट के हाथों में केंद्रित न होकर सीमित शासक कुलों की सभा में निहित थी। प्रस्तुत शोध–पत्र का उद्देश्य इन दोनों राजनीतिक रूपों का संस्थागत और तुलनात्मक अध्ययन करना है। इसमें गणराज्य को आधुनिक सार्वभौम लोकतंत्र के समान न मानकर कुलीनतंत्रीय या क्षत्रिय–आधारित सामूहिक शासन के रूप में समझा गया है, क्योंकि राजनीतिक अधिकार समाज के सभी वर्गों को समान रूप से प्राप्त नहीं थे। इसके विपरीत राजतंत्र में राजा राज्य का केंद्रीय प्रतीक, सर्वोच्च कार्यपालिका तथा राजकीय अधिकार का प्रमुख स्रोत था, यद्यपि मंत्रियों, पुरोहितों, अधिकारियों और परंपरागत संस्थाओं का प्रभाव भी बना रहता था। अध्ययन में सभा की संरचना, निर्णय–प्रक्रिया, नेतृत्व–चयन, उत्तराधिकार, न्याय, प्रशासन, सैन्य संगठन, सामाजिक प्रतिनिधित्व और राजनीतिक उत्तरदायित्व के आधार पर दोनों व्यवस्थाओं की तुलना की गई है। निष्कर्षतः गणराज्यों में सामूहिक विचार–विमर्श और अभिजात सहभागिता की अपेक्षाकृत अधिक गुंजाइश थी, जबकि राजतंत्रों में निर्णय की गति, प्रशासनिक केंद्रीकरण और आदेश–पालन की क्षमता अधिक विकसित थी। इस प्रकार महाजनपदकालीन भारत में गणराज्य और राजतंत्र परस्पर विरोधी ही नहीं, बल्कि राज्य–निर्माण के दो भिन्न ऐतिहासिक मार्ग थे। तुलनात्मक विश्लेषण यह भी दर्शाता है कि दोनों प्रणालियाँ अलग सामाजिक आधारों और वैधता के स्रोतों से विकसित हुई थीं।

प्रमुख शब्दः महाजनपद, गणराज्य, गण–संघ, राजतंत्र, वज्जि, लिच्छवि, सभा, संथागार, राजसत्ता, राजनीतिक व्यवस्था।

प्रस्तावना

महाजनपदकालीन राजनीति को समझने के लिए यह मान लेना पर्याप्त नहीं है कि प्राचीन भारत में शासन का सामान्य और एकमात्र रूप राजतंत्र था। बौद्ध, जैन और कुछ व्याकरणिक स्रोत स्पष्ट करते हैं कि ईसा–पूर्व छठी–पाँचवीं शताब्दी में राजाओं द्वारा शासित राज्यों के साथ ऐसे राजनीतिक समुदाय भी विद्यमान थे जिन्हें गण, संघ अथवा गण–संघ कहा जाता था। टी. डब्ल्यू. रीस डेविड्स ने बुद्धकालीन भारत का वर्णन करते हुए शक्तिशाली राजतंत्रों

और स्वतंत्र अथवा अर्ध–स्वतंत्र कुलीन गणों के सहअस्तित्व पर विशेष ध्यान दिया था।[1] आधुनिक इतिहासलेखन ने इस द्वैत को और स्पष्ट किया है। रोमिला थापर ने गण–संघों को वंश अथवा कुल पर आधारित राजनीतिक संरचनाओं के रूप में देखा है, जबकि मध्य गंगा घाटी के विकसित राजतंत्रों में निश्चित भू–क्षेत्र, राजकीय अधिकार, कर–संग्रह और केंद्रीकृत सत्ता का महत्त्व अधिक था।[2] इसी कारण गणराज्य और राजतंत्र की तुलना केवल 'राजा था अथवा नहीं था' जैसे सामान्य प्रश्न तक सीमित नहीं की जा सकती। तुलना का वास्तविक आधार यह होना चाहिए कि संप्रभुता किस संस्था में निहित थी, निर्णय कौन लेता था, नेतृत्व किस प्रकार बनता था, शासन की निरंतरता कैसे कायम रहती थी, न्याय किसके अधिकार में था और राजनीतिक समुदाय में किन समूहों को भागीदारी प्राप्त थी। प्रस्तुत अध्ययन इन्हीं राजनीतिक प्रश्नों के आधार पर दोनों व्यवस्थाओं के अंतर और समानताओं का विश्लेषण करता है। साथ ही आधुनिक लोकतंत्र, संसद और सार्वभौमिक नागरिकता जैसी अवधारणाओं को सीधे प्राचीन संस्थाओं पर लागू करने से बचा गया है, क्योंकि गण–संघों की सहभागिता सीमित अभिजात समूहों तक थी और दूसरी ओर राजतंत्र को भी पूर्णतः स्वेच्छाचारी शासन के समान नहीं माना जा सकता।

महाजनपदकालीन राजनीतिक पृष्ठभूमि

महाजनपदों के युग में गणराज्य और राजतंत्र का सहअस्तित्व उस दीर्घकालीन परिवर्तन का परिणाम था जिसमें जनजातीय और कुल–आधारित राजनीतिक समुदाय धीरे–धीरे निश्चित क्षेत्र वाले राज्यों में परिवर्तित हो रहे थे। राजतंत्रीय राज्यों में 'एकराज' की धारणा अधिक स्पष्ट थी, अर्थात राज्य की सर्वोच्च सत्ता एक राजा में प्रतीकात्मक और व्यावहारिक रूप से केंद्रित होती थी। इसके विपरीत गण–संघों में शासन अनेक 'राजाओं' अथवा कुल–प्रधानों की सामूहिक संस्था द्वारा संचालित होता था। पाणिनि से प्राप्त साक्ष्यों में एकराज जनपदों और संघ के रूप में संगठित जनपदों के बीच अंतर दिखाई देता है। वासुदेव शरण अग्रवाल ने पाणिनि के राजनीतिक भूगोल का विश्लेषण करते हुए राजतंत्रीय जनपदों और संघात्मक राजनीतिक समुदायों की इस पृथक पहचान को स्पष्ट किया है।[3] यह अंतर केवल पदनाम का नहीं बल्कि संप्रभु अधिकार की संरचना का था। गण–संघों में शासक कुलों के विभिन्न प्रमुख 'राजा' की उपाधि धारण कर सकते थे, पर उनमें से कोई एक स्थायी सार्वभौम शासक नहीं था। दूसरी ओर राजतंत्र में राजकीय पद वंश और उत्तराधिकार से जुड़कर अपेक्षाकृत स्थिर स्वरूप ग्रहण कर चुका था। के. पी. जायसवाल ने गणों को प्राचीन भारतीय संवैधानिक

[1] डेविड्स, टी. डब्ल्यू. रीस. (1903). बुद्धिस्ट इंडिया. टी. फिशर अनविन, लंदन, पृ. 5–7.

[2] थापर, रोमिला. (1991). फ्रॉम लिनिएज टू स्टेटः सोशल फॉर्मेशन्स ऑफ द मिड–फर्स्ट मिलेनियम बी. सी. इन द गंगा वैली. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, पृ. 112–115.

[3] अग्रवाल, वासुदेव शरण. (1953). इंडिया ऐज नोन टू पाणिनि. यूनिवर्सिटी ऑफ लखनऊ, लखनऊ, पृ. 426–434.

परंपरा का एक स्वतंत्र रूप मानते हुए सभा–प्रधान शासन पर विशेष बल दिया था।[4] यद्यपि बाद के इतिहासकारों ने उनके अत्यधिक लोकतांत्रिक निष्कर्षों को संशोधित किया, फिर भी सामूहिक निर्णय संस्था के अस्तित्व को स्वीकार किया गया। अनेक गण–संघ हिमालय की तराई और उत्तर–पूर्वी क्षेत्रों में पाए जाते थे, जबकि शक्तिशाली राजतंत्र मध्य गंगा मैदान में अधिक स्पष्ट रूप से विकसित हुए। इससे संकेत मिलता है कि राजनीतिक व्यवस्था स्थानीय सामाजिक परंपराओं और ऐतिहासिक परिस्थितियों से भी प्रभावित थी।

गणराज्य की वास्तविक प्रकृति

महाजनपदकालीन गणराज्यों की प्रकृति को समझने में सबसे बड़ी सावधानी आधुनिक 'रिपब्लिक' और 'डेमोक्रेसी' जैसे शब्दों के प्रयोग से जुड़ी है। गण अथवा संघ का अर्थ ऐसा राजनीतिक समुदाय था जिसमें संप्रभु अधिकार किसी एक व्यक्ति के स्थान पर कुलीन सदस्यों के समूह में निहित था। उपिन्दर सिंह ने स्पष्ट किया है कि प्राचीन भारतीय गण आधुनिक अर्थ में लोकतांत्रिक राज्य नहीं थे, उनकी सत्ता प्रमुख क्षत्रिय परिवारों के मुखियाओं की अभिजात सभा के हाथों में रहती थी, जबकि कृषक, शिल्पकार, श्रमिक, दास तथा महिलाएँ राजनीतिक अधिकार से सामान्यतः बाहर थे।[5] इसलिए उन्हें 'कुलीनतंत्रीय गणराज्य' अथवा 'अभिजात गण–संघ' कहना अधिक उपयुक्त है। वज्जि–संघ के लिच्छवियों, मल्लों और शाक्यों के उदाहरणों से ज्ञात होता है कि शासक परिवारों के अनेक प्रमुख 'राजा' की उपाधि धारण करते थे और सामूहिक सभा में भाग लेते थे। जे. पी. शर्मा ने 'गण' शब्द की ऐतिहासिक व्याख्या करते हुए दिखाया है कि विभिन्न स्रोतों में इसका प्रयोग समूह, राजनीतिक निकाय और गैर–राजतंत्रीय शासन के अर्थ में हुआ।[6] इससे स्पष्ट है कि गणराज्य की मूल विशेषता सार्वभौमिक जनसत्ता नहीं बल्कि बहु–केंद्रित कुलीन संप्रभुता थी। फिर भी इसकी राजनीतिक महत्ता कम नहीं होती, क्योंकि इसमें एकल शासक की अनुपस्थिति, बहस की संस्थागत संभावना, सामूहिक निर्णय और पदाधिकारियों के चयन जैसी विशेषताएँ विद्यमान थीं। यहाँ राजनीतिक समानता मुख्यतः शासक कुलों के सदस्यों के भीतर की समानता थी। अतः सभा–प्रधानता को व्यापक जनाधिकार का प्रमाण मानना भ्रामक होगा, लेकिन सत्ता के विभाजन और विचार–विमर्श की उपस्थिति इसे राजतंत्र से स्पष्ट रूप से अलग करती थी।

गणराज्यों की सभा, परिषद और संथागार

---

[4] जायसवाल, के. पी. (1955). हिन्दू पॉलिटीः ए कॉन्स्टिट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इंडिया इन हिन्दू टाइम्स. बैंगलोर प्रिंटिंग एंड पब्लिशिंग कंपनी, बैंगलोर, पृ. 21–25.

[5] सिंह, उपिन्दर. (2008). ए हिस्ट्री ऑफ एंशिएंट एंड अर्ली मीडिवल इंडिया. पियर्सन लॉन्गमैन, दिल्ली, पृ. 263–267.

[6] शर्मा, जे. पी. (1968). रिपब्लिक्स इन एंशिएंट इंडिया, सी. 1500 बी.सी.–500 बी.सी. ई. जे. ब्रिल, लीडेन, पृ. 12–14.

International Journal of Advanced Research and Multidisciplinary Trends (IJARMT)
An International Open Access, Peer-Reviewed Refereed Journal
Impact Factor: 6.4 Website: https://ijarmt.com ISSN No.: 3048-9458

गणराज्य की राजनीतिक संरचना का केंद्र सभा थी, जो सामान्यतः शासक कुलों के पात्र सदस्यों से निर्मित होती थी। लिच्छवियों और अन्य गण–संघों के संदर्भ में सभा–भवन के लिए 'संथागार' का उल्लेख मिलता है, जहाँ सार्वजनिक मामलों पर विचार–विमर्श किया जाता था। यह सभा संप्रभु अधिकार का औपचारिक स्रोत थी और नेतृत्व, युद्ध, शांति, संधि, दंड तथा सामुदायिक नीति जैसे महत्वपूर्ण प्रश्नों पर निर्णय कर सकती थी। प्राचीन गणों के अध्ययन से संकेत मिलता है कि विशाल सामान्य सभा के अतिरिक्त एक अपेक्षाकृत छोटी परिषद अथवा कार्यकारी निकाय भी अस्तित्व में रहा होगा, जिससे दैनिक प्रशासन और व्यापक सामूहिक संप्रभुता के बीच कार्य–विभाजन संभव होता था।[7] वज्जि–संघ के विस्तृत अध्ययन में जे. पी. शर्मा ने सभा, परिषद, पदाधिकारियों तथा निर्णय–प्रक्रिया के बीच संबंध को गणतंत्रीय शासन की प्रमुख विशेषता माना है।[8] बौद्ध संघ की कार्यप्रणाली में प्रयुक्त प्रस्ताव, कोरम, मतदान और मत–संग्रह जैसी प्रक्रियाओं को कुछ विद्वान समकालीन गण–संघों की राजनीतिक संस्कृति से तुलनीय मानते हैं, यद्यपि दोनों संस्थाओं को पूर्णतः समान नहीं माना जा सकता। महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि सार्वजनिक प्रश्न केवल किसी एक राजा की इच्छा से तय नहीं होते थे। दूसरी ओर बड़ी सभा की प्रक्रिया निर्णय को धीमा कर सकती थी और विभिन्न अभिजात परिवारों के प्रतिस्पर्धी हित आंतरिक गुटबाजी को जन्म दे सकते थे। सभा की बैठकें आवश्यकता के अनुसार आयोजित होती थीं और वरिष्ठता, कुलीय प्रतिष्ठा तथा प्रभाव निर्णय को प्रभावित कर सकते थे। छोटी परिषद का अस्तित्व यह दर्शाता है कि गण–संघों ने केवल सामान्य सभा नहीं बल्कि कार्यकारी शासन के लिए भी पृथक संस्थागत व्यवस्था विकसित की थी।

राजतंत्र की राजनीतिक संरचना

राजतंत्रीय महाजनपदों की राजनीतिक संरचना गण–संघों से मूलतः इस कारण भिन्न थी कि उनमें संप्रभुता का केंद्र एक व्यक्ति राजा था। राजा केवल युद्ध का नेतृत्व करने वाला व्यक्ति नहीं था बल्कि राज्य की निरंतरता, न्याय, प्रशासन, राजकीय आदेश तथा बाहरी संबंधों का सर्वोच्च प्रतीक बन चुका था। पद सामान्यतः वंशानुगत होता गया और राजवंश की निरंतरता राजनीतिक स्थिरता का एक महत्त्वपूर्ण आधार बनी। ए. एस. अल्तेकर ने प्राचीन भारतीय राज्य के अध्ययन में स्पष्ट किया है कि राजा के अधिकार व्यापक थे, किंतु शासन केवल उसकी व्यक्तिगत इच्छा से संचालित नहीं होता था, मंत्रियों, पुरोहितों, सेनापति, अधिकारियों,

[7] अल्तेकर, ए. एस. (1955). स्टेट एंड गवर्नमेंट इन एंशिएंट इंडिया. मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ. 99–118.

[8] शर्मा, जे. पी. (1968). रिपब्लिक्स इन एंशिएंट इंडिया, सी. 1500 बी.सी.–500 बी.सी. ई. जे. ब्रिल, लीडेन, पृ. 81–90.

धर्म और स्थापित राजनीतिक परंपराओं का भी महत्त्व था।[9] यू. एन. घोषाल ने राजत्व की वैचारिक संरचना में प्रजा–रक्षा, दंड और सामाजिक व्यवस्था की स्थापना को महत्त्वपूर्ण राजकीय उत्तरदायित्व माना है।[10] महाजनपदकालीन राजतंत्रों में एकल राजसत्ता का सबसे प्रमुख परिणाम निर्णय और प्रशासन का केंद्रीकरण था। आदेश की श्रृंखला अपेक्षाकृत स्पष्ट थी और उच्च अधिकारी राजा के नाम से कार्य कर सकते थे। किंतु इसे पूर्ण निरंकुशता नहीं माना जाना चाहिए। राजा को कुलीन वर्गों, अधिकारियों, राजपरिवार और सामाजिक–धार्मिक अपेक्षाओं के साथ संतुलन बनाकर शासन करना पड़ता था। राजतंत्र की स्थिरता का दूसरा आधार पदों और दायित्वों का विभाजन था, राजा स्वयं सम्पूर्ण प्रशासन नहीं चला सकता था। इसलिए मंत्रणा और अधिकारी–तंत्र व्यावहारिक शासन के आवश्यक अंग बने। इस व्यवस्था ने व्यक्तिगत राजत्व और विकसित प्रशासनिक संस्थाओं के बीच एक विशिष्ट संतुलन निर्मित किया।

संप्रभुता और निर्णय–प्रक्रिया का तुलनात्मक स्वरूप

गणराज्य और राजतंत्र के बीच सबसे मूलभूत अंतर संप्रभुता के स्थान और निर्णय लेने की विधि में दिखाई देता है। गणराज्य में अंतिम राजनीतिक वैधता शासक कुलों की सामूहिक संस्था से प्राप्त होती थी, किसी एक नेता का अधिकार सभा की स्वीकृति और कुलीन सहमति से सीमित रहता था। नेतृत्व महत्त्वपूर्ण था, लेकिन राज्य किसी एक शासक की व्यक्तिगत सत्ता का पर्याय नहीं था। अल्तेकर की गणराज्यों पर चर्चा से स्पष्ट होता है कि गैर–राजतंत्रीय व्यवस्थाओं में सभा की भूमिका केवल परामर्श देने वाली संस्था तक सीमित नहीं थी, बल्कि वह वास्तविक राजनीतिक अधिकार की धारक थी।[11] ए. एल. बाशम ने भी प्राचीन भारतीय कुलीन गणराज्यों को राजतंत्र से इसी आधार पर पृथक माना है कि वहाँ एक अभिजात निकाय सामूहिक रूप से शासन करता था।[12]

इसके विपरीत राजतंत्र में मंत्रणा की व्यवस्था होते हुए भी अंतिम निर्णय राजा के अधिकार के अंतर्गत लागू होता था। इस अंतर के व्यावहारिक परिणाम महत्वपूर्ण थे। गणराज्य में किसी निर्णय से पहले अधिक विचार–विमर्श और सहमति आवश्यक हो सकती थी, जिससे एक व्यक्ति की मनमानी सीमित रहती थी, लेकिन संकट की स्थिति में लंबी विचार–प्रक्रिया प्रतिक्रिया को धीमा भी कर सकती थी।

---

[9] अल्तेकर, ए. एस. (1955). स्टेट एंड गवर्नमेंट इन एंशिएंट इंडिया. मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ. 58–62.

[10] घोषाल, यू. एन. (1923). ए हिस्ट्री ऑफ हिन्दू पॉलिटिकल थ्योरीज. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कलकत्ता, पृ. 76–84.

[11] अल्तेकर, ए. एस. (1955). स्टेट एंड गवर्नमेंट इन एंशिएंट इंडिया. मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ. 119–128.

[12] बाशम, ए. एल. (1954). द वंडर दैट वाज इंडिया. सिडगविक एंड जैक्सन, लंदन, पृ. 93–100.

International Journal of Advanced Research and Multidisciplinary Trends (IJARMT)
An International Open Access, Peer-Reviewed Refereed Journal
Impact Factor: 6.4 Website: https://ijarmt.com ISSN No.: 3048-9458

राजतंत्र में त्वरित सैन्य, कूटनीतिक या प्रशासनिक निर्णय संभव था, किंतु गलत राजकीय निर्णय का प्रभाव भी व्यापक हो सकता था। इस प्रकार गणराज्य सामूहिक वैधता और शक्ति–विभाजन पर अधिक निर्भर था, जबकि राजतंत्र केंद्रीय निर्णय क्षमता पर। दोनों में परामर्श की व्यवस्था थी, किंतु अंतिम अधिकार का स्थान मूलतः भिन्न था।

नेतृत्व, चयन और उत्तराधिकार

नेतृत्व के गठन और उत्तराधिकार की दृष्टि से दोनों राजनीतिक व्यवस्थाओं में एक महत्वपूर्ण संरचनात्मक अंतर विद्यमान था। राजतंत्र में राजा का पद प्रायः राजवंश से जुड़ा हुआ था और उत्तराधिकार शासन की निरंतरता सुनिश्चित करने का प्रमुख साधन था। यद्यपि युवराजों के बीच संघर्ष, उत्तराधिकार विवाद अथवा अयोग्य उत्तराधिकारी राजनीतिक अस्थिरता उत्पन्न कर सकते थे, फिर भी सत्ता के सर्वोच्च पद की पहचान अपेक्षाकृत स्पष्ट रहती थी। गणराज्यों में इसके विपरीत कोई स्थायी एकल वंशानुगत सम्राट नहीं होता था। शासक कुलों के सदस्य स्वयं अपनी कुलीन राजनीतिक स्थिति वंशानुगत रूप से प्राप्त करते थे, किंतु अध्यक्ष, गणपति, गणराजा, नायक अथवा संघमुख्य जैसे कार्यकारी नेतृत्व के पद पर किसी व्यक्ति को शासक कुलों की स्वीकृति अथवा चयन के आधार पर प्रतिष्ठित किया जा सकता था। बी. सी. लॉ द्वारा लिच्छवियों से संबंधित साहित्यिक परंपराओं के विश्लेषण से कार्यकारी नायक और शासक कुलों के संबंध का संकेत मिलता है।[13] शाक्यों के विस्तृत अध्ययन में जे. पी. शर्मा ने भी कुल–प्रधानों की सभा तथा प्रमुख पदाधिकारियों के बीच निकट संस्थागत संबंध को रेखांकित किया है।[14] इसलिए गणराज्य में 'चुनाव' शब्द को आधुनिक सार्वभौमिक निर्वाचन के अर्थ में प्रयोग नहीं करना चाहिए, यह सीमित अभिजात समुदाय के अंदर नेतृत्व चयन था। तुलनात्मक रूप से राजतंत्र ने उत्तराधिकार की स्पष्टता दी, जबकि गणराज्य ने एक व्यक्ति को स्थायी सार्वभौम बनने से रोका। राजतंत्र में उत्तराधिकार विवाद व्यापक संकट बन सकता था, जबकि गणराज्य में अभिजात गुटबाजी राजनीतिक गतिरोध का कारण बन सकती थी।

प्रशासन और न्याय व्यवस्था

प्रशासनिक संरचना में राजतंत्र सामान्यतः गणराज्यों की तुलना में अधिक पदानुक्रमित और केंद्रीकृत था। राजा के अधीन मंत्री, सेनापति, कोषाधिकारी और अन्य पदाधिकारी राजकीय दायित्वों का निर्वहन करते थे। जैसे–जैसे राज्य का क्षेत्र विस्तृत होता गया, आदेश, सुरक्षा और न्याय को प्रभावी रूप से संचालित करने के लिए नियमित अधिकारियों की आवश्यकता

---

[13] लॉ, बी. सी. (1943). ट्राइब्स इन एंशिएंट इंडिया. भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना, पृ. 338–345.

[14] शर्मा, जे. पी. (1968). रिपब्लिक्स इन एंशिएंट इंडिया, सी. 1500 बी.सी.–500 बी.सी. ई. जे. ब्रिल, लीडेन, पृ. 182–186.

बढ़ी। गणराज्यों में भी कार्यकारी पद मौजूद थे – राजा अथवा कुल–प्रधान, उपराजा, सेनापति और भण्डागारिक जैसे पदों का उल्लेख मिलता है, किन्तु इनका अधिकार सामूहिक शासक निकाय से स्वतंत्र नहीं था। आर. एस. शर्मा ने लिच्छवियों और शाक्यों की प्रशासनिक प्रणाली को राजतंत्रीय राज्यों की तुलना में अपेक्षाकृत सरल माना है, क्योंकि वहाँ सत्ता कई कुलीन प्रमुखों के बीच विभाजित थी।[15] दूसरी ओर लिच्छवियों से जुड़ी बौद्ध परंपराओं में न्यायिक प्रक्रिया के अनेक स्तरों का उल्लेख मिलता है। जे. पी. शर्मा ने इन परंपराओं का आलोचनात्मक अध्ययन करते हुए स्पष्ट किया कि न्याय और दंड का अधिकार गणराज्य की सामूहिक संप्रभुता से संबंधित था, यद्यपि उपलब्ध साहित्यिक विवरणों को अक्षरशः स्वीकार करना उचित नहीं होगा।[16] तुलनात्मक रूप से राजतंत्र में राजा सर्वोच्च न्यायिक और दंडात्मक प्राधिकार का प्रतीक बनता गया, जबकि गण–संघ में दंड सामूहिक राजनीतिक निकाय की शक्ति का विस्तार था। इस व्यवस्था के कारण उत्तरदायित्व भी भिन्न रूप लेता था। गणराज्य में निर्णय कई शासक सदस्यों का सामूहिक दायित्व था, जबकि राजतंत्र में शासन की सफलता अथवा विफलता अधिक प्रत्यक्ष रूप से राजा की प्रतिष्ठा से जुड़ सकती थी।

सैन्य संगठन की तुलना

सैन्य संगठन में दोनों राजनीतिक व्यवस्थाओं का अंतर उनकी सत्ता–संरचना का प्रत्यक्ष प्रतिबिंब था। राजतंत्रीय राज्यों में सेना राजा की केंद्रीय सत्ता के अधीन संगठित होती थी और सेनापति राजकीय आदेश के अनुसार कार्य करता था। इससे सैनिक संसाधनों का एकीकृत प्रयोग, त्वरित आदेश तथा दीर्घकालीन रणनीतिक योजना बनाना अपेक्षाकृत सरल था। इसके विपरीत गणराज्यों में शासक कुलों के सदस्य स्वयं योद्धा अभिजात वर्ग से आते थे और सैन्य दायित्व उनकी राजनीतिक स्थिति से निकटता से जुड़ा था। आर. एस. शर्मा ने राजतंत्र और गणराज्य के अंतर की व्याख्या करते हुए संकेत किया है कि राजतंत्रीय राज्य सैन्य शक्ति पर अधिक केंद्रीकृत नियंत्रण रखते थे, जबकि गणों में विभिन्न कुलीन प्रमुख अपने सैन्य अनुचरों तथा सेनापतियों के माध्यम से शक्ति–साझेदारी कर सकते थे।[17] वज्जि जैसे संघों की सैन्य क्षमता सामूहिक सहयोग और घटक कुलों की एकता पर निर्भर करती थी। संकट में विभिन्न गण संयुक्त शक्ति प्रस्तुत कर सकते थे, लेकिन इसके लिए आंतरिक सहमति बनाए रखना आवश्यक था। मल्लों सहित पूर्वी गण–संघों के अध्ययन से भी सभा, परिषद और सैन्य नीति के बीच घनिष्ठ संबंध का संकेत मिलता है।[18] तुलनात्मक रूप से

---

[15] शर्मा, आर. एस. (2007). इंडियाज एंशिएंट पास्ट. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, पृ. 146–148.

[16] शर्मा, जे. पी. (1968). रिपब्लिक्स इन एंशिएंट इंडिया, सी. 1500 बी.सी.–500 बी.सी. ई. जे. ब्रिल, लीडेन, पृ. 131–138.

[17] शर्मा, आर. एस. (2007). इंडियाज एंशिएंट पास्ट. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, पृ. 148–150.

[18] शर्मा, जे. पी. (1968). रिपब्लिक्स इन एंशिएंट इंडिया, सी. 1500 बी.सी.–500 बी.सी. ई. जे. ब्रिल, लीडेन, पृ. 169–171.

राजतंत्र की सैन्य प्रणाली अधिक केंद्रीकृत कमान पर आधारित थी, जबकि गणराज्य की सैन्य शक्ति योद्धा–कुलीनों और संघीय सहयोग पर निर्भर थी। केंद्रीय कमान सैनिकों और साधनों को एक ही दिशा में तेजी से केंद्रित कर सकती थी, जबकि संघात्मक व्यवस्था में विभिन्न घटकों के बीच समन्वय आवश्यक था। इसलिए युद्धकालीन निर्णय क्षमता राजनीतिक संविधान के स्वरूप से सीधे जुड़ी हुई थी।

सामाजिक प्रतिनिधित्व और राजनीतिक सहभागिता

राजनीतिक सहभागिता के प्रश्न पर गणराज्य और राजतंत्र की तुलना विशेष सावधानी की माँग करती है। गणराज्यों में सभा और सामूहिक निर्णय की उपस्थिति के कारण उन्हें आधुनिक लोकतंत्र का प्राचीन रूप मानने की प्रवृत्ति रही है, किंतु उपलब्ध स्रोत बताते हैं कि राजनीतिक अधिकार व्यापक जनसमुदाय के स्थान पर मुख्यतः शासक क्षत्रिय परिवारों तक सीमित था। लिच्छवि सभा के अनेक 'राजाओं' का उल्लेख बड़ी अभिजात सदस्यता का संकेत अवश्य देता है, लेकिन यह सामान्य कृषकों, शिल्पकारों, श्रमिकों, दासों अथवा महिलाओं की राजनीतिक भागीदारी का प्रमाण नहीं है। उपिन्दर सिंह ने विशेष रूप से स्पष्ट किया है कि गण–संघों की सभाएँ प्रमुख क्षत्रिय परिवारों के मुखियाओं की संस्थाएँ थीं और महिलाएँ इस राजनीतिक निकाय में सम्मिलित नहीं थीं।[19] इसके विपरीत राजतंत्र में सामान्य प्रजा के लिए केंद्रीय शासन में प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व की संस्था और भी सीमित थी। राजा, दरबार, मंत्री और अधिकारी निर्णयों का संचालन करते थे। इसलिए गणराज्य को राजतंत्र की अपेक्षा अधिक सहभागी कहा जा सकता है, लेकिन वह सहभागिता 'अभिजात समुदाय के भीतर' थी, पूरे समाज में नहीं। के. पी. जायसवाल ने प्राचीन गणों के संदर्भ में राजनीतिक समानता को प्रमुख विशेषता माना था, किंतु बाद के अध्ययनों ने इस समानता को मुख्यतः शासक वर्ग के सदस्यों के बीच की समानता के रूप में समझा है।[20] राजनीतिक समुदाय और सामाजिक समुदाय इसलिए समानार्थी नहीं थे। गणराज्य की सीमा के भीतर रहने वाला प्रत्येक व्यक्ति गणसभा का सदस्य नहीं था। यही तथ्य आधुनिक लोकतंत्र और प्राचीन गणराज्य के बीच मूल अंतर स्थापित करता है।

धार्मिक वैधता और राजनीतिक संस्कृति

राजनीतिक वैधता के निर्माण में धर्म, परंपरा और सामाजिक प्रतिष्ठा की भूमिका दोनों व्यवस्थाओं में थी, किंतु उसका स्वरूप अलग था। राजतंत्र में राजा का पद ब्राह्मणीय अनुष्ठानों, राजाभिषेक, दंड और धर्म की अवधारणाओं से क्रमशः अधिक घनिष्ठ रूप से जुड़ता गया। पुरोहित की उपस्थिति और राजकीय अनुष्ठान राजा की वैधता को धार्मिक और

---

[19] सिंह, उपिन्दर. (2008). ए हिस्ट्री ऑफ एंशिएंट एंड अर्ली मीडिवल इंडिया. पियर्सन लॉन्गमैन, दिल्ली, पृ. 265–268.

[20] जायसवाल, के. पी. (1955). हिन्दू पॉलिटीः ए कॉन्स्टिट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इंडिया इन हिन्दू टाइम्स. बैंगलोर प्रिंटिंग एंड पब्लिशिंग कंपनी, बैंगलोर, पृ. 46–50.

International Journal of Advanced Research and Multidisciplinary Trends (IJARMT)
An International Open Access, Peer-Reviewed Refereed Journal
Impact Factor: 6.4 Website: https://ijarmt.com ISSN No.: 3048-9458

सामाजिक प्रतीकों के माध्यम से सुदृढ़ कर सकते थे। यू. एन. घोषाल ने राजत्व के सिद्धांतों का अध्ययन करते हुए धर्म–रक्षा, दंड और सामाजिक व्यवस्था को राजा के प्रमुख उत्तरदायित्वों से जोड़ा है।[21] इसके विपरीत प्रारम्भिक गण–संघों में ब्राह्मण पुरोहित की राजनीतिक भूमिका अपेक्षाकृत कम दिखाई देती है और क्षत्रिय कुलीय पहचान अधिक महत्वपूर्ण थी। इसका अर्थ यह नहीं है कि गणराज्य धर्मविहीन थे। वज्जि और लिच्छवियों से संबंधित बौद्ध तथा जैन स्रोत अनेक स्थानीय चैत्य, धार्मिक परंपराएँ और विभिन्न श्रमण शिक्षकों के प्रति सम्मान का उल्लेख करते हैं। बी. सी. लॉ ने लिच्छवियों के सामाजिक–धार्मिक जीवन का अध्ययन करते हुए स्थानीय पूजा–पद्धतियों और बौद्ध–जैन प्रभाव के सहअस्तित्व को रेखांकित किया है।[22] तुलनात्मक दृष्टि से राजतंत्र की वैधता राजा के व्यक्तित्व, राजकीय पद और उसके धार्मिक–नैतिक कर्तव्यों पर अधिक केंद्रित थी, जबकि गणराज्य की वैधता कुलीय परंपरा, शासक सदस्यों की सामूहिक प्रतिष्ठा और सभा की निरंतरता से निर्मित होती थी। इसलिए दोनों राजनीतिक प्रणालियों में वैधता के स्रोत केवल संस्थागत रूप से ही नहीं, बल्कि राजनीतिक संस्कृति और प्रतीकों के स्तर पर भी अलग थे।

दोनों व्यवस्थाओं की शक्तियाँ और सीमाएँ

दोनों राजनीतिक प्रणालियों की अपनी विशिष्ट शक्तियाँ और सीमाएँ थीं। गणराज्य की प्रमुख शक्ति यह थी कि सत्ता किसी एक व्यक्ति में पूर्णतः केंद्रित नहीं होती थी, कुलीन सभा के भीतर बहस, परामर्श और सामूहिक निर्णय एक प्रकार का संस्थागत नियंत्रण प्रदान करते थे। इससे किसी नेता की व्यक्तिगत मनमानी सीमित हो सकती थी और प्रमुख परिवारों को शासन में भागीदारी मिलने के कारण व्यवस्था की आंतरिक वैधता मजबूत रह सकती थी। किंतु यही संरचना व्यापक क्षेत्र, अनेक समुदायों और तीव्र संकट की स्थिति में कठिनाई भी उत्पन्न कर सकती थी। प्रभावशाली परिवारों के परस्पर विरोधी हित निर्णय को धीमा कर सकते थे और संघात्मक एकता घटक कुलों की सहमति पर निर्भर रहती थी। राजतंत्र की प्रमुख शक्ति केंद्रीय आदेश, स्पष्ट नेतृत्व और प्रशासनिक निरंतरता थी। राजा के नाम पर कूटनीतिक, सैन्य और प्रशासनिक निर्णय तेजी से लिए जा सकते थे। दूसरी ओर केंद्रीकृत व्यवस्था उत्तराधिकार विवाद, अयोग्य राजा अथवा दरबारी संघर्ष से गंभीर संकट का सामना कर सकती थी। गणराज्यों की दीर्घजीविता यह सिद्ध करती है कि वे स्वभावतः अप्रभावी व्यवस्थाएँ नहीं थे, विभिन्न गण बाद के समय तक भी अस्तित्व में रहे। फिर भी जे. पी. शर्मा ने गणराज्यों के क्रमिक पतन की व्याख्या में आंतरिक विभाजन और अधिक केंद्रीकृत पड़ोसी

---

[21] घोषाल, यू. एन. (1923). ए हिस्ट्री ऑफ हिन्दू पॉलिटिकल थ्योरीज. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कलकत्ता, पृ. 24–25.

[22] लॉ, बी. सी. (1943). ट्राइब्स इन एंशिएंट इंडिया. भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना, पृ. 330–337.

राज्यों के दबाव को महत्त्वपूर्ण माना है।[23] इसलिए किसी एक व्यवस्था को सार्वभौमिक रूप से श्रेष्ठ घोषित करना उचित नहीं है। छोटे कुल–आधारित समुदायों में सामूहिक शासन प्रभावी हो सकता था, जबकि बड़े भू–क्षेत्र पर नियमित प्रशासन के लिए केंद्रीय राजसत्ता तुलनात्मक रूप से अधिक अनुकूल सिद्ध हो सकती थी।

निष्कर्ष

महाजनपदकालीन गणराज्य और राजतंत्र का तुलनात्मक अध्ययन स्पष्ट करता है कि प्राचीन उत्तर भारत में राज्य–निर्माण एकरेखीय प्रक्रिया नहीं थी। एक ओर ऐसे राजतंत्र विकसित हुए जिनमें राजा संप्रभुता, प्रशासन, न्याय और सैन्य आदेश का केंद्रीय स्रोत था, दूसरी ओर गण–संघों में शासक कुलों की सभा सामूहिक रूप से राजनीतिक अधिकार का प्रयोग करती थी। गणराज्यों की विशिष्टता सभा, परिषद, विचार–विमर्श और बहु–नेतृत्व में थी, जबकि उनकी सबसे बड़ी सीमा राजनीतिक सहभागिता का संकीर्ण सामाजिक आधार था। राजतंत्र की शक्ति स्पष्ट नेतृत्व, उत्तराधिकार की संस्थागत निरंतरता, प्रशासनिक पदानुक्रम और केंद्रीकृत निर्णय क्षमता में थी, लेकिन यही केंद्रीकरण शासन की गुणवत्ता को शासक और राजवंशीय स्थिरता से अधिक जोड़ देता था। इसलिए दोनों प्रणालियों के बीच अंतर आधुनिक 'लोकतंत्र बनाम तानाशाही' जैसा सरल विरोध नहीं था। गणराज्य अभिजात कुलों की भागीदारी पर आधारित गैर–राजतंत्रीय शासन थे और राजतंत्र सामाजिक तथा संस्थागत सीमाओं के भीतर कार्य करने वाली केंद्रीकृत राजसत्ता। ऐतिहासिक दृष्टि से गण–संघों का महत्त्व इस तथ्य में है कि उन्होंने सामूहिक संप्रभुता, सभा और साझा नेतृत्व की वैकल्पिक परंपरा प्रस्तुत की, राजतंत्रों का महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने केंद्रीय शासन और विस्तृत क्षेत्रीय प्रशासन की क्षमता विकसित की। अतः महाजनपदकालीन राजनीति की वास्तविक विशेषता किसी एक व्यवस्था की अनिवार्य श्रेष्ठता नहीं, बल्कि विभिन्न राजनीतिक समुदायों द्वारा सत्ता, वैधता और शासन के लिए अलग–अलग संस्थागत समाधान विकसित करना था। इस प्रकार दोनों प्रणालियों ने प्राचीन भारतीय राजनीतिक अनुभव को अपनी पृथक विशेषताओं के माध्यम से समृद्ध किया।

[23] शर्मा, जे. पी. (1968). रिपब्लिक्स इन एंशिएंट इंडिया, सी. 1500 बी.सी.–500 बी.सी. ई. जे. ब्रिल, लीडेन, पृ. 237–243.